भारतीय दलित आन्दोलन का इतिहास (चार खण्ड)
मोहनदास नैमिशराय
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
मूल्य : 1,500 रुपये (सजिल्द)

अस्मितावादी इतिहास-लेखन की समस्याएँ

बजरंग बिहारी तिवारी

दलित लेखन व आंदोलन किसी भाषा-विशेष तक सीमित न होकर अखिल भारतीय स्वरूप वाला है। कुछ वैसा ही जैसा प्रगतिवादी आंदोलन और साहित्य था, और उससे पहले भक्ति साहित्य व आंदोलन था। दलित आंदोलन अपने इन पूर्ववर्ती आंदोलनों से मात्र रूप और विस्तार में साम्य नहीं रखता बल्कि अंतर्वस्तु और उद्देश्य के स्तर पर भी जुड़ा दिखता है। आक्रोश आपूरित परिवर्तनेच्छा इन तीनों आंदोलनों को अंतर्ग्रंथित करती है। इन आंदोलनों के दौरान भाषाई एकता का प्रश्न भी सक्रिय रहा है। आंदोलनों की अखिल भारतीयता निर्मित होने के क्रम में पारस्परिक संवाद की भाषा भी विकसित होती गयी है। भक्ति आंदोलन का भाषिक चरित्र देखें तो मालूम होगा कि मध्य देश की भाषा संतों-भक्तों की साझी भाषा के रूप में अपनाई गयी है। जिस भाषा में कबीर की बानियाँ हैं, महाराष्ट्र के नामदेव भी अपनी मराठी के अतिरिक्त उस भाषा में पद रचना करते हैं। अध्येताओं ने रेखांकित किया है, कि मराठी के लगभग सभी संत रचनाकारों ने बोलचाल की मध्यदेशीय भाषा में थोड़ा बहुत अवश्य लिखा है। गुजरात के वैष्णव कवि, बंगाल के चैतन्य महाप्रभु और गौड़ीय मतावलंबी कवि, आंध्र प्रदेश के वल्लभाचार्य और उनके पुष्टिमार्गीय रचनाकार लगभग एक-सी हिंदी का व्यवहार करते हैं।

2008 के नवम्बर महीने में केंद्रीय साहित्य अकादेमी ने दलित साहित्य पर पहला आयोजन किया। इस आयोजन को साहित्य अकादेमी द्वारा दलित लेखन व आंदोलन को आधिकारिक मान्यता देने के रूप में भी देखा गया। चूँकि दलित साहित्य का सोता महाराष्ट्र से फूटा था इसलिए स्वाभाविक ही था कि यह आयोजन वहीं किया जाता। शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में हुई दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्राय: सभी भाषाओं के दलित साहित्य व आंदोलन की चर्चा हुई। चर्चा का माध्यम मुख्यत: हिंदी भाषा थी। (शिवसेना के) मराठीवाद का उभार उन दिनों उफ़ान पर था।

भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास तैयार करते समय एक ऐसी रूपरेखा तय करना आवश्यक है जो निर्धारित विषय की यथासम्भव मुक़म्मल तस्वीर पेश कर सके। प्रोजेक्ट को महाराष्ट्र तथा हिंदी पट्टी पर केंद्रित कर अन्य क्षेत्रों का आधा-अधूरा उल्लेख करना वाजिब नहीं कहा जा सकता। महाराष्ट्र से सटा हुआ प्रांत गुजरात है। गुजरात का दलित आंदोलन महाराष्ट्र के आंदोलन से भिन्न है।

अधिसंख्य वक्ता मराठी के दलित साहित्यकार थे। उन्होंने ज़िद भरी सजगता के साथ हिंदी में अपनी बातें रखीं। एक प्रमुख मराठी लेखक ने यह प्रस्ताव भी रखा कि भारतीय दलित साहित्य की कोई आधिकारिक भाषा होनी चाहिए और हिंदी इसके लिए सर्वथा उपयुक्त है। हिंदी के तमाम दलित लेखकों के साथ मोहनदास नैमिशराय भी उस आयोजन में मौजूद थे। हिंदी के कुछ दलित लेखकों की तरफ़ से यह प्रश्न उठाया गया कि अन्य भारतीय भाषाओं, ख़ासकर मराठी दलित साहित्य में जब भी कोई महत्त्वपूर्ण कृति प्रकाशित होती है उसका हिंदी अनुवाद भी आ जाता है, लेकिन हिंदी दलित साहित्य का उस अनुपात में मराठी अनुवाद क्यों नहीं होता? इसका जवाब हिंदी-मराठी के बीच सेतु का काम कर रहे डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे ने दिया। उन्होंने मोटे तौर पर दो बिंदु उठाये। पहला यह कि हम ग़ैर-हिंदी भाषी हिंदी की रचनाओं को मूल में ही पढ़-समझ लेते हैं, हिंदी के दलित लेखक क्या ऐसा करते हैं? दूसरा, यह कि कृति में अगर ऐसी ताक़तवर माँग अंतर्निहित है तो वह अपना अनुवाद करवा लेगी।

बहरहाल, इस राष्ट्रीय आयोजन के बाद कई प्रसंगों में यह माँग उठी कि भारतीय दलित आंदोलन और साहित्य का मुक़म्मल इतिहास हिंदी में लिखा जाना चाहिए तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे दलित साहित्य के हिंदी में अनुवाद की विधिवत् व्यवस्था की जानी चाहिए। *भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास* लिखकर नैमिशराय ने बहुप्रतीक्षित माँग को एक हद तक पूरा करने की कोशिश की है। कुल चार खण्डों में प्रकाशित इस बृहद् ग्रंथ की विस्तृत समीक्षा करना मेरे जैसे अल्पपठित समीक्षक के लिए सम्भव नहीं है। मैं बहुत संक्षेप में इस अध्ययन पर परिचयात्मक टिप्पणी तक अपने को सीमित रखूँगा। पिछले कुछ समय से भारतीय दलित साहित्य पर पढ़ते-सुनते यह तो समझ में आने लगा है कि प्रस्तुत महत्त्वाकांक्षी प्रोजेक्ट को हाथ में लेना जितना प्रलोभनकारी व प्रीतिकर है उसे भली-भाँति पूरा करना उतना ही मुश्किल है। या तो आपको भारत की प्रमुख भाषाओं की काम-चलाऊ जानकारी हो या फिर आपके पास विभिन्न भाषाओं के रुचिशील अध्येताओं की टीम हो। दीर्घ और व्यवस्थित तैयारी, सघन व व्यापक सर्वेक्षण, इस दिशा में अब तक हुए कार्यों का संतोषजनक लेखा-जोखा किये बग़ैर इस प्रोजेक्ट के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। तमाम बाधाओं को पार करते हुए मोहनदास नैमिशराय ने यह अध्ययन प्रकाशित करवा लिया है तो उनके श्रम, सामर्थ्य और लगन की दाद देनी ही होगी।

प्रथम खण्ड की भूमिका 'दो शब्द' में लेखक ने उन कठिनाइयों का संकेत किया है जो उनको झेलनी पड़ीं। लेखक ने स्रोत-सामग्री का ज़िक्र करते हुए दो कोटियाँ बनाई हैं। पहली कोटि में 'अपूर्ण तथा ग़लत तरीक़े से इतिहास को प्रस्तुत' करने वाले सवर्ण लेखक हैं तथा दूसरी में 'ईमानदार तथा प्रतिबद्ध युरोपियन/एशियन इतिहासकार' हैं। इन दोनों कोटियों के लेखकों का सोदाहरण खुलासा नैमिशराय ने नहीं किया है। अपनी इतिहास संबंधी बुनियादी समझ का इशारा करते हुए उन्होंने यह अवश्य बताया है, 'आर्यों के समूहों का भारत में आगमन वास्तव में एक निष्ठुर प्रकार का आक्रमण था। वही स्थिति लगभग आज भी है (पृ. 8)।' अस्मितावादी विमर्श के पास इतिहास को जाँचने-परखने की जो दृष्टि है, प्रस्तुत अध्ययन को उसके एक उल्लेखनीय उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। अपनी इतिहास संबंधी चिंता को ज़ाहिर करते हुए नैमिशराय ने इस भूमिका में दर्ज़ किया

है, 'इसलिए सच का यथार्थवादी इतिहास हमारी आँखें खोलता है और सवर्णों के द्वारा लिखे गये इतिहास के नाम पर अधिकांश पुस्तकों के रूप में बोगस वर्णन प्रत्येक आने वाली नयी पीढ़ी को गुमराह भी करता रहा है (पृ. 10)।' नयी पीढ़ी को सही राह दिखाने की ज़िम्मेदारी के साथ लेखक ने भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास रचा है, 'जो ज़रूरी था वह मैंने किया (पृ. 10)।'

नैमिशराय ने उचित ही डॉ. आम्बेडकर को दलित आंदोलन के इतिहास के केंद्र में रखा है। ग्रंथ का पहला खण्ड आम्बेडकर-पूर्व भारत पर है। इस खण्ड का प्रथम अध्याय 'मध्यकाल के संतों के सुधारवादी आंदोलन का प्रभाव' शीर्षक से है। आम्बेडकर को केंद्र में रखकर लिखे गये 'इतिहास' से यह अपेक्षा अस्वाभाविक नहीं है कि संत परम्परा से पहले बौद्ध मतानुयायी सिद्धों को रखा जाए। सातवीं-आठवीं शताब्दी में सहजयानी सिद्धों ने ईश्वर रहित ('सेक्युलर'?) साधना का प्रचार किया था। संत अपनी स्त्री-निंदा के लिए कुख्यात हैं, गृहस्थी भी उनके यहाँ जंजाल के रूप में देखी जाती है जबकि सिद्ध कवि न तो स्त्री-निंदा में प्रवृत्त होते हैं और न गृहस्थ धर्म के तिरस्कार में। नैमिशराय ने मध्ययुगीन इतिहास की विवेचना में डॉ. धर्मवीर की समझ को प्रमाणवत माना है। बौद्ध परम्परा को श्रेय न देने के पीछे यह भी एक कारण हो सकता है। इसलाम की भूमिका पर नैमिशराय ने कई जगह टिप्पणियाँ की हैं। इन टिप्पणियों में कहीं-कहीं 'नवीनता' दिखाई देती है, 'चूँकि इसलाम भक्ति-परायण धर्म था इसलिए सूफ़ियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था (पृ. 16)।' दलितों के लिए इस्लाम एक विकल्प के रूप में आया। नैमिशराय ने अपुष्ट निष्कर्ष पेश करते हुए बताया है, 'इसलाम क़बूल करके वे (दलित) 'राजा-जाति' में मिल गये और सम्मानपूर्वक रहने लगे (पृ. 17)।' कबीर के बारे में उन्होंने डॉ. धर्मवीर की बातों को ही दुहराया है। कबीर के 'ब्राह्मणवादी' आलोचकों, प्रशंसकों को संबोधित करते हुए नैमिशराय कहते हैं, 'यह बात सवर्ण इतिहासकारों तथा समीक्षकों को मान ही लेनी चाहिए कि यदि मुसलमानों का राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव इस देश पर न पड़ा होता तो दलित जातियों में से इतने सारे संत उभरकर नहीं आ सकते थे (पृ. 31)।' लेखक को यहाँ इस प्रश्न का उत्तर भी तलाशना चाहिए कि चौरासी (प्रमुख) सिद्धों में दलित जातियों के जो साधक हैं वे किस प्रभाव का परिणाम हैं?

संत काव्यधारा पर अपने अध्याय का समापन करते हुए नैमिशराय ने उन्हें 'दलित आंदोलन की यात्रा में', 'मील का पत्थर', माना है। 'बाबासाहेब डॉ. आम्बेडकर से पूर्व का भारत' नामक अध्याय में लेखक ने ब्रिटिश युगीन भारत की चर्चा की है। उनका मानना है... 'बाबासाहेब आम्बेडकर के पूर्व का भारत स्पष्टत: दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था... (पृ. 43)।' 'आधुनिकता' का आगमन पहले-पहल कलकत्ता में हुआ। नैमिशराय का मंतव्य है, 'बंगालियों में जो 'प्रोग्रेसिव' दृष्टिकोण बना था वह बतौर फ़ैशन था। वे पश्चिमी शिक्षा की आधुनिकता की ख़ुशफ़हमी में जी रहे थे (पृ. 43)।' केरल के नम्बूदरी ब्राह्मणों पर अचरज भरी टिप्पणी इस तरह की गयी है, 'संस्कृत आधिपत्य के विरुद्ध एक शक्तिशाली विद्रोह की चिंगारी उन्नीसवीं सदी के नम्बूदरी कवियों ने भड़काई। संस्कृत प्रभुत्व के विरुद्ध नम्बूदरियों का यह विद्रोह बड़ा रहस्यमय लगता है' (पृ. 49)। चूँकि नैमिशराय किसी मुद्दे पर ठहरकर विचार करने से बचते हैं

नैमिशराय किसी मुद्दे पर ठहरकर विचार करने से बचते हैं इसलिए उनके 'अध्ययन' से किसी सार्थक बहस की गुंजाइश नहीं बनती। ब्राह्मण-प्रभुत्व का प्रश्न क्योंकि इस अध्ययन की धुरी है इसलिए लेखक को उक्त 'रहस्य' से पर्दा हटाने की चेष्टा करनी चाहिए थी। बीसवीं शताब्दी (1907 से शुरू) के पहले दशक में केरल के नम्बूदरी समाज में उभरे विद्रोही तथा सुधारात्मक स्वरों को समझने के बाद ही संस्कृत-विरोध की गुत्थी सुलझ सकती है।

लेखक इस जिज्ञासा के शमन में दिलचस्पी नहीं लेता कि गंगाजल बिक्री की वे 'ख़ास जगहें' कौन सी थीं और 'काफ़ी कीमत' का क्या अर्थ लगाया जाए। इस प्रसंग से ब्राह्मण जाति एक 'चालाक जाति' के रूप में दिखाई देती है। लेखक उन्हें चालाक न कह कर मूर्ख कहता है, 'मेरे पास भी ब्राह्मणों की मूर्खता पर हँसने के अलावा कोई और तर्क नहीं है, क्योंकि आप ब्राह्मण से तर्क करिये, झट से वह आपको नास्तिक या अधार्मिक कहेगा'। ब्राह्मण-चर्चा को अनपेक्षित विस्तार देते हुए नैमिशराय समाज संस्कृति के आर्थिक-राजनीतिक आयामों पर ज़्यादा ध्यान नहीं देते।

इसलिए उनके 'अध्ययन' से किसी सार्थक बहस की गुंजाइश नहीं बनती। ब्राह्मण-प्रभुत्व का प्रश्न क्योंकि इस अध्ययन की धुरी है इसलिए लेखक को उक्त 'रहस्य' से पर्दा हटाने की चेष्टा करनी चाहिए थी। बीसवीं शताब्दी (1907 से शुरू) के पहले दशक में केरल के नम्बूदरी समाज में उभरे विद्रोही तथा सुधारात्मक स्वरों को समझने के बाद ही संस्कृत-विरोध की गुत्थी सुलझ सकती है।

नैमिशराय ने '1800-1900 के बीच के काल को आँधी, तूफ़ान तथा अंधड़ों का काल' माना है (पृ. 56)। समाज अंधविश्वासों में डूबा हुआ था। एकमात्र सुविधाभोगी तबका ब्राह्मणों का था। वे गंगाजल का व्यापार करने से सम्पन्न हुए थे : 'ब्राह्मण बहंगियों पर लाद कर इन गंगाजली घड़ों को बाहर ले जाते थे। कंधा बदलते हुए ब्राह्मण इन घड़ों को तीन-चार सौ कोस तक ले जाते थे और ख़ास जगहों में जाकर वे उन्हें बेच देते थे या किसी को भेंट कर देते थे। पर भेंट पाने वाले का काफ़ी मालदार होना आवश्यक था, जिससे ब्राह्मण देवताओं को भरपूर पारिश्रमिक वसूल हो सके' (पृ. 51)। 'आँखिन देखी' के लिए किसी स्रोत-संदर्भ देने की ज़रूरत नहीं होती इसलिए लेखक ने इसे 'यथावत' लिखा है। यह सूचना भी लेखक ने दी है कि 'कुछ ऐसे हिंदू भी थे जो काफ़ी कीमत देकर अपने बच्चों की शादी के समय गंगाजल पीते थे' (पृ. 51), लेखक इस जिज्ञासा के शमन में दिलचस्पी नहीं लेता कि गंगाजल बिक्री की वे 'ख़ास जगहें' कौन सी थीं और 'काफ़ी कीमत' का क्या अर्थ लगाया जाए। इस प्रसंग से ब्राह्मण जाति एक 'चालाक जाति' के रूप में दिखाई देती है। लेखक उन्हें चालाक न कह कर मूर्ख कहता है, 'मेरे पास भी ब्राह्मणों की मूर्खता पर हँसने के अलावा कोई और तर्क नहीं है, क्योंकि आप ब्राह्मण से तर्क करिये, झट से वह आपको नास्तिक या अधार्मिक कहेगा' (पृ. 51)। ब्राह्मण-चर्चा को अनपेक्षित विस्तार देते हुए नैमिशराय समाज संस्कृति के आर्थिक-राजनीतिक आयामों पर ज़्यादा ध्यान नहीं देते। वे इतना आग्रह-पूर्वक कहते हैं कि 'ब्राह्मण ही शासक जातियाँ हैं, इस पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता' (पृ. 84)। इसलिए उनका मानना है कि यह 'वर्ग पूरी तरह ऐय्याशी कर रहा था दूसरी तरफ़ अथाह ग़रीबी थी' (पृ. 85)। अपने इतिहास-अध्ययन को और स्पष्ट करते हुए नैमिशराय सूचित करते हैं, 'एक समय ऐसा था जब शासित वर्ग का कोई मनुष्य उस पानी को पिए बिना भोजन नहीं कर सकता था, जिस पानी से ब्राह्मण के पैर का अँगूठा न धोया गया हो' (पृ. 85)। यह आम्बेडकर के प्रादुर्भाव के पहले का समय है। ज्योतिबा फुले इसी समय हुए थे। उनकी किताब *गुलामगीरी* 'ब्राह्मणवाद का वास्तविक इतिहास' है (पृ.56)। फुले के लेखन, आंदोलन और सत्य शोधक समाज की सक्रियता पर इससे ज़्यादा कुछ नहीं कहा गया है। फुले का अकाल के संबंध में दिये गये 'प्रार्थनापत्र' को उद्धृत कर चर्चा की इतिश्री कर दी गयी है।

अगले अध्याय में लेखक ने अवश्य दास प्रथा और बेगार प्रथा पर महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ दी हैं। 'भारत में महिला: सवाल से जवाब तक' अध्याय की शुरुआत डॉ. धर्मवीर के 'शोध' के उल्लेख से की गयी है लेकिन उस शोध का कोई अता-पता नहीं दिया गया है (पृ.116)। एक बेहद गम्भीर

विषय को सपाट वक्तव्यों से निपटा देने की कला के दर्शन हमें इस अध्याय में भी होते हैं। बिना किसी तुलनात्मक अध्ययन की जहमत उठाये लेखक यह स्थापना देता है, 'समूचे विश्व में अगर कहीं महिलाओं की स्थिति सबसे ख़राब रही तो वह भारत में थी' (पृ.117)। विमर्श की माँग के अनुरूप लेखक की राय बनी हैं '...भारत के अधिकांश सवर्ण लेखक, साहित्यकार, समीक्षक महिलाओं की स्थिति के बारे में सदियों से सरासर झूठ बोलते रहे हैं...' (पृ. 117)। बीसवीं शताब्दी के भारत में स्त्री दशा पर विचार का संदर्भ *महाभारत* बना है, 'महाभारत का गांधारी प्रसंग नारी समाज को जितना कलंकित करता है, उतना तो विश्व में अन्य कोई दृष्टांत ही नहीं है। एक राजकुमारी की ब्राह्मणों ने अंधे धृतराष्ट्र से शादी कर दी। उसके बाद ब्राह्मणों ने गांधारी की आँखें होते हुए भी देखने पर प्रतिबंध लगा दिया' (पृ. 112)।

ब्राह्मणों के आंतक और क्रूरता के ब्योरों से यह अध्ययन भरा हुआ है। ब्राह्मण-विश्वास की 'मनोरंजक' जानकारियाँ लेखक ने ख़ूब दी हैं। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और गंगाधर राव के बेमेल विवाह का ज़िक्र करने के बाद लेखक राज़फ़ाश करता है, 'ब्राह्मणों के बीच तो उस समय यह प्रचलित था कि जितनी कम आयु की कन्या से सम्भोग किया जाएगा, मनुष्य उतनी ही लम्बी आयु पाएगा और तरुण रहेगा।' इस सूचना के स्रोत पर लेखक मौन है। वह इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए कहता है कि ब्राह्मण को 'सम्भोग के लिए हज़ारों स्त्रियों की ज़रूरत थी' (पृ.123)। बाल विवाह हुए तो बाल विधवाएँ भी हुईं जिनकी संख्या आज 'कई करोड़' है। 'कोई ज़हर खाकर दुख से छुटकारा पाती है, कोई भंगी, कहार, मुसलमान के साथ भागकर ख़ानदान का नाम रोशन करती है' (पृ. 123)। ऐसी 'समझ' से लेखक की दृष्टि का पता चलता है और साथ ही यह सवाल भी उठता है कि 'ब्राह्मण रीति रिवाज़ों' के वर्णन तक सिमटा 'अध्ययन' दलित आंदोलन के इतिहास के साथ कितना न्याय कर पा रहा है।

अगले अध्याय को देवदासी प्रथा पर केंद्रित कर नैमिशराय ने दलित स्त्रियों की समस्या पर लिखा है। यहाँ भी समस्या का उत्स पूर्ववत ही है: 'ब्राह्मण वर्ग ने दलित समाज में यह भी भ्रमात्मक विश्वास फैला रखा था कि देवदासी परम्परा को आगे जारी न रखने वाली महिलाओं के घर ईश्वर स्वयं जाकर उन्हें सज़ा देगा' (पृ. 186)। पहले भाग के शेष अध्यायों में लेखक ने भंगी, जाटव, महार, दुसाध, कोली, चाण्डाल या नमोशूद्र और धानुक जाति के 'गौरवशाली इतिहास' पर सामग्री दी है। प्रथम भाग का अंतिम हिस्सा 'व्यक्तित्व / संस्था' की जानकारी देने वाला है। इसमें फुले, गुरु घासीदास, भीमा भोई, मतुआ धर्म, महादेव गोविंद रानाडे, पण्डिता रमाबाई, राजवाड़े से संबंधित जानकारियाँ हैं। दलित आंदोलन को समझने में यह हिस्सा बहुत मददगार है।

दलित आंदोलन के इतिहास का दूसरा भाग डॉ. आम्बेडकर और उनके समकालीनों पर आधारित है। लेखक ने 'दो शब्द' में यह चिंता ज़ाहिर की है कि ब्राह्मणवादी 'आम्बेडकर को ख़ारिज करने तथा उनके चिंतन और दर्शन को हिंदुत्व के रंग में रँगने' में लगे हुए हैं। इसके साथ ही कम्युनिस्टों के झूठ के पुलिंदे सार्वजनिक हो गये हैं।' दलित साहित्यकारों के लेखन का नतीजा है कि 'द्विजों के अधिकांश लेखक, चिंतक और इतिहासकार जितनी ऊँचाई पर थे, वे उतना ही नीचे तेज़ी के साथ आने लगे हैं' (पृ. 6)। दलित आंदोलन के समझने

केरल की जाति व्यवस्था में सिर्फ़ नम्बूदरी ब्राह्मणों का अपर्याप्त ज़िक्र करके विषय को समाप्त मान लिया गया है। पुलयों, परयों और ईषवों में बीसवीं सदी के पहले-दूसरे दशकों में जो जागृति आयी, जिस तरह के परिवर्तनवादी आंदोलन छेड़े गये उसका हवाला दिया जाना चाहिए। इस प्रांत के एक दलित नायक आयंकाली का सवा पेज का परिचय निहायत नाकाफ़ी है।

कर्नाटक में दलित आंदोलन का मज़बूत इतिहास है। वसवन्ना और उनसे प्रेरित वचन साहित्य आंदोलन से शुरू होकर आधुनिक काल में भीम सेना और दलित संघर्ष समिति (डीएसएस) तक की क्रमिक विकास यात्रा है। नैमिशराय के इतिहास में यह सिरे से गायब है। यही हाल आंध्र प्रदेश के दलित आंदोलन का भी है।

लिए दूसरा भाग ख़ासा मूल्यवान है। इसमें आम्बेडकर के निर्माण की परिस्थितियों का ख़ाका है साथ ही उनकी 'सनातनियों से मुठभेड़' भी वर्णित है। इन सनातनियों में सुभाष चंद्र बोस, तिलक, मालवीय, लाजपत राय, रवींद्रनाथ टैगोर, पांडुरंग वामन काणे, विवेकानंद, नेहरू आदि हैं। आम्बेडकर तथा गाँधी के बीच संवाद को अलग अध्याय में विवेचित किया गया है। इसी तरह आम्बेडकर के समकालीन मुसलिम नेताओं जिन्ना, शेख अब्दुल्ला और अमर शेख शादीर पर स्वतंत्र अध्याय है। पेरियार ई.वी. रामास्वामी नायकर पर लिखते हुए उन्हें 'दक्षिण का आम्बेडकर' कहा गया है (पृ. 224)। नैमिशराय यह भी बताते हैं कि पेरियार 'लम्बे अरसे तक एक प्रतिबद्ध गाँधीवादी और कांग्रेसी रहे। इस मायने में उनका सफ़र आम्बेडकर से काफ़ी अलग था' (पृ. 226)। दूसरे खण्ड के आख़िरी भाग में आम्बेडकर युगीन और उनके परवर्ती उल्लेखनीय बौद्ध चिंतकों तथा अभ्यासकों पर लिखा गया है। उसका समापन डॉ. जगन्नाथ उपाध्याय से होता है। जगन्नाथ ने वाराणसी में धम्मदीक्षा का आयोजन किया था और 'बनारस के आसपास के दलितों को बड़ी संख्या में श्री मोती राम शास्त्री के नेतृत्व में दीक्षित कराके ब्राह्मणी-केंद्र में तहलका मचा दिया' था (पृ. 538)।

'इतिहास' का तीसरा भाग स्वतंत्रता संग्राम पर केंद्रित है। दलित तथा आदिवासियों की हिस्सेदारी का बयान लेखक का तात्कालिक लक्ष्य है। मंदिर प्रवेश का प्रश्न, शिक्षा और श्रम की दुनिया की झलक इस भाग में शामिल है। डॉ. आम्बेडकर का आंदोलन और विचार, पूना पैक्ट और 'गाँधीवादियों का विश्वासघात' तथा धर्म-परिवर्तन परिघटना से इस भाग का समापन किया गया है। धर्मपरिवर्तन के बाद बौद्धों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, नैमिशराय ने उसका भी नोटिस लिया है। प्रमुख सामाजिक संस्थाओं के परिचय के साथ समापन अंश को समृद्ध किया गया है।

चौथे और आख़िरी भाग में स्वतंत्र भारत की विवेचना है। अलग-अलग मिज़ाज लेकिन एकसूत्री सरोकार वाले लेखों को जोड़कर यह खण्ड रचा गया है। एक अध्याय मंदिर प्रवेश पर है तो दूसरा जनता पार्टी पर। तीसरा 'माया मुख्यमंत्री' पर है तो चौथा भारतीय ईसाइयों के द्वंद्व पर। दलित पत्रकारिता पर विस्तार से लिखते हुए नैमिशराय ने बतौर पत्रकार अपने अनुभवों का लाभ पाठकों के साथ बाँटा है। दलित पैंथर तथा नामांतर आंदोलन पर बेशकीमती जानकारी इन पर लिखे अध्यायों में मिलती है। सीरीज़ का अंत 'कुछ सवाल कुछ चुनौतियों' से किया गया है। किताब का अंत इस अपील से किया गया है कि 'भारत में जाति आधारित जनगणना हो' (पृ. 565)। जाति गणना के नाम पर 'अब केवल अनुसूचित जाति और जनजाति समूहों की ही गणना होती है जो कुल आबादी के एक चौथाई हैं।...अपर कास्ट में कितने ब्राह्मण हैं, ब्राह्मणों में कितने महाब्राह्मण हैं, कितने सरजूपरायण ब्राह्मण हैं, किसी को कोई पता नहीं है। यही स्थिति ठाकुरों, भूमिहारों तथा वैश्यों की है' (पृ. 565)। जाति जनगणना से सभी जातियों के बारे में 'सटीक जानकारी मिलेगी जिसका निश्लेषण कर विभिन्न जातियों की विशिष्ट समस्याओं का हल खोजा जा सकेगा।'

भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास की विशेषताओं को अगर कुछ बिंदुओं में समेटना हो तो कहा जा सकता है कि यह अध्ययन एक बड़ी कमी को पूरा करता है। हिंदी में भारतीय दलित आंदोलन को प्रस्तुत किया जाना ज़रूरी था जो नैमिशराय ने मेहनत से किया है। यह कार्य अपनी तरह का पहला प्रयास है। कुछ वैसा ही जैसा ओमप्रकाश वाल्मीकि ने *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र* लिखकर

किया था। दोनों ही अध्ययन अस्मितावादी विमर्श की अपेक्षाओं और कसौटियों के अनुसार हैं। इन्हें स्वीकृत अकादमिक प्रतिमानों से परखने पर असंतोष हो सकता है।

दरअसल, भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास तैयार करते समय एक ऐसी रूपरेखा तय करना आवश्यक है जो निर्धारित विषय की यथासम्भव मुक़म्मल तस्वीर पेश कर सके। प्रोजेक्ट को महाराष्ट्र तथा हिंदी पट्टी पर केंद्रित कर अन्य क्षेत्रों का आधा-अधूरा उल्लेख करना वाजिब नहीं कहा जा सकता। महाराष्ट्र से सटा हुआ प्रांत गुजरात है। गुजरात का दलित आंदोलन महाराष्ट्र के आंदोलन से भिन्न है। इस भिन्नता की प्रकृति, गुजराती दलित जातियों की बुनियादी जानकारी, यहाँ के दलित संगठन और परिवर्तन के अभियान काल क्रमानुसार विवेचित किये जाने चाहिए। 1975 से यहाँ दलित पैंथर सक्रिय हुआ। रमेशचंद्र परमार ने इस नाम से पत्रिका शुरू की। इसके बाद दलित आंदोलन-कर्मियों की अगली पीढ़ी तैयार हुई। गाँधी के प्रति इनकी दृष्टि मराठी दलित लेखकों-कार्यकर्ताओं से भिन्न है। गुजराती दलित साहित्य की प्रकृति शेष भारतीय दलित साहित्य जैसी नहीं है। इन सब बिंदुओं को ध्यान में रखकर गुजरात के दलित आंदोलन का इतिहास लिखा जाना चाहिए। नैमिशराय के अध्ययन में गुजरात का दलित आंदोलन शामिल नहीं है। इसी तरह धुर-दक्षिण का केरलीय दलित आंदोलन है। केरल की जाति व्यवस्था में सिर्फ़ नम्बूदरी ब्राह्मणों का अपर्याप्त ज़िक्र करके विषय को समाप्त मान लिया गया है। पुलयों, परयों और ईषवों में बीसवीं सदी के पहले-दूसरे दशकों में जो जागृति आयी, जिस तरह के परिवर्तनवादी आंदोलन छेड़े गये उसका हवाला दिया जाना चाहिए। इस प्रांत के एक दलित नायक आयंकाली का सवा पेज का परिचय निहायत नाकाफ़ी है। जिस साधुजन परिपालन संघम (1907 में स्थापित) ने केरल में दलित आंदोलन की नींव डाली उसका नामोल्लेख भी नहीं किया गया है। यह सूचना आयंकाली के परिचय में अवश्य जोड़ी गयी है कि उन्हें शरीर पर कपड़ा पहनने की मनाही थी 'इसलिए शीतलहर के दिनों में उन्हें बहुत कष्ट झेलने पड़ते थे (पृ. 446 खण्ड 1)।' कहना न होगा कि तिरुवनंतपुरम और उसके आस-पास कष्टकारी शीतलहर की ख़बर कुछ लोगों को चौंकाने वाली लग सकती है। कर्नाटक में दलित आंदोलन का मज़बूत इतिहास है। वसवन्ना और उनसे प्रेरित वचन साहित्य आंदोलन से शुरू होकर आधुनिक काल में भीम सेना और दलित संघर्ष समिति (डीएसएस) तक की क्रमिक विकास यात्रा है। नैमिशराय के इतिहास में यह सिरे से गायब है। यही हाल आंध्र प्रदेश के दलित आंदोलन का भी है। ओडीशा के दलित-जागरण का उल्लेख भी न के बराबर है। भीमा भोई और महिमा धर्म का जो उल्लेख है उससे प्रांत की स्थिति पर कतई प्रकाश नहीं पड़ता। बंगाल के दलित आंदोलन को इसी तरह मतुआ धर्म के परिचय तक समेट दिया गया है। दलित आंदोलन के इतिहास पर कोई अध्ययन 2013 में प्रकाशित हो, उसमें 2012 तक की घटनाओं को शामिल किया गया हो, इसके बावजूद दलित स्त्रीवादी आंदोलन और लेखन का नाम तक न लिया गया हो तो उस अध्ययन की विडम्बना पर क्या टिप्पणी की जाए। चार भागों वाले इस स्फीत आकारी ग्रंथ की विषय सामग्री से अगर उसके शीर्षक का मिलान किया जाए तो परियोजना की महत्त्वाकांक्षा और यथार्थ का अंतर साफ़ दिखने लगता है।